६

तत्त्वमसि

मानव-जीवन संगमरमर के समान है और मानव एक शिल्पकार है। कुशल शिल्पी के हाथों मानव-जीवन सुन्दरतम रूप में परिणत हो जाता है। मानव, यदि कुशल शिल्पकार नहीं बन पाया, तो जीवन-संगमरमर का कोई मूल्य अथवा उपयोग नहीं रह जाता। वह मात्र संगमरमर का एक खण्ड पत्थर, केवल पत्थर ही रह जाएगा, इससे अधिक कुछ नहीं। यदि मनुष्य अपने को एक शिल्पकार की भूमिका में ले आए, तो अपने जीवन-संगमरमर को उसे क्या रूप देना है, उसमें कौन-सा सौन्दर्य लाना है, उसके लिए कुछ भी बताने की आवश्यकता किसी को नहीं है। एक शिल्पकार ही तो संगमरमर को काट-छांट कर मूर्ति के रूप में उसे भगवान् का रूप देता है। बस, मनुष्य भी अपना शिल्पकार स्वयं बना नहीं कि उसके जीवन संगमरमर को भगवान् बनने में कुछ देर नहीं लगेगी। हे मानव! तू एक बार अपने को पहचान ले, स्वयं को कुशल शिल्पकार बना ले। बस, फिर तुझे अनन्त शक्तिमान भगवान् बनते क्या देर होगी? कुछ भी तो नहीं।

भारत के कुछ दार्शनिकों ने ईश्वर की एक अलग सत्ता मान कर और उसे विश्व की जीव-जन्तु रूप कठ-पुतलियों को मन चाहे ढंग से नचाने वाले सर्व-शक्तिमान सूत्रधार की संज्ञा दे कर, मनुष्य का महत्त्व कम कर दिया है। इसके विपरीत, जैन-दार्शनिकों की यह सबसे बड़ी विशेषता रही है, कि उन्होंने सर्व-शक्तिमान के रूप में ईश्वर की अलग सत्ता नहीं मान कर, मनुष्य-मात्र को ही अनन्त-शक्तिमान माना। कितना गहरा और स्वस्थ विचार दिया है, जैन-दार्शनिकों ने। मनुष्य को उसके अपने स्व में ही केन्द्रित कर दिया, कहीं अन्यत्र भिक्षा-पात्र लिए इधर-उधर भटकने नहीं दिया, तनिक भी आने-जाने की आवश्यकता का अनुभव नहीं होने दिया। और, परम सुख एवं अनन्त ज्ञान की अनुभूतियों का परमानन्द प्राप्त करने का कितना सत्य एवं सरल मार्ग है। दर्शन-चेतना के एक कवि ने सत्य ही कहा है--

"बीज, बीज ही नहीं, बीज में तरुवर भी है।
मनुज, मनुज ही नहीं, मनुज में ईश्वर भी है॥"

मनुष्य, तू केवल मनुष्य ही नहीं, हाड़-मांस का चलता-फिरता ढांचा ही नहीं, प्रत्युत तू बहुत-कुछ है। बहुत-कुछ ही नहीं, सब-कुछ है। बस, एक बार स्वयं को पहचान ले। तू अपना परिचय स्वयं अपने से कर ले। तेरे में अनन्त प्रकाश की जो रश्मियाँ अंधकार में बन्द पड़ी हैं, उन्हें एक बार खोलने की आवश्यकता है। एक बार अपनी आत्मा पर लगी राग-द्वेष की गन्दगी को धोकर देख, बस, सुगन्ध ही सुगन्ध है, प्रकाश ही प्रकाश है। तू ठोकरें खानेवाला अन्धकार स्वयं प्रकाश बनकर ठोकरों से बचाने वाला बन जाएगा।

आत्मा को विकारों से बचाने की आवश्यकता है, फिर तो बाजी अपने हाथ में है। राग-द्वेष के वातावरण से बाहर आकर एक बार जो श्वास लिया कि उसकी सुगन्ध स्वयमेव सर्व-शक्तिमान् की अनुभूति करा देगी। सोई हुई आत्मा के जागृत होने पर विकार रूपी शत्रुओं का कहीं अता-पता भी न लगेगा। जीवन में एक नयी चमक आ जाएगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवन को सच्चे आनन्द की ओर एक नया मोड़ मिल जाएगा। जीवन में पूर्णता आने लगेगी। जीवन के साम्राज्य में सर्व-शक्तियों का उदय हो जाएगा।

जैन-दर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा में परमात्म-ज्योति विद्यमान है। प्रत्येक चेतन में परम चेतन विराजमान है। चेतन और परम चेतन दो नहीं हैं, एक हैं। अशुद्ध से शुद्ध होने पर चेतन ही परम चेतन हो जाता है। कोई भी चेतन, परम चेतन की ज्योति से मूलतः शून्य या रिक्त नहीं है। वह दीन, हीन एवं भिखारी नहीं है। यह मत समझिए कि कर्म के आवरण के कारण जो आत्मा आज संसार में भटक रही है, वह कभी संसार के बन्धनों से मुक्त न हो सकेगी। इस विराट् विश्व का प्रत्येक चेतन अपने स्वयंसिद्ध अध्यात्म-राज्य के सिंहासन पर बैठने का अधिकारी है, उसे भिखारी समझना सर्वथा भूल है। भिखारी हर चीज को माँगता है और साधक प्रत्येक वस्तु को अपने अन्दर से ही प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। मैं आपसे कहता हूँ कि प्रत्येक साधक अधिकारी है, वह भिखारी नहीं है। अधिकारी का अर्थ है—अपनी सत्ता एवं शक्ति पर विश्वास करने वाला और भिखारी का अर्थ है—अपनी सत्ता एवं शक्ति पर विश्वास न करके दूसरे की दया और करुणा पर अपना जीवन व्यतीत करनेवाला। जैन-दर्शन का तत्त्व-चिन्तन उस परम-ज्योति, परम-प्रकाश और परमात्म-तत्त्व की खोज कहीं बाहर में नहीं, अपने अन्दर में ही करता है। वह कहता है कि 'अप्पा सो परमप्पा' अर्थात् आत्मा ही परमात्मा है। 'तत् त्वमसि' का अर्थ भी यही है कि आत्मा केवल आत्मा ही नहीं है, बल्कि वह स्वयं परमात्मा है, परब्रह्म है, ईश्वर है। मात्र आवश्यकता है—अपने को जागृत करने की और आवरण को दूर फेंक देने की।

भारत के कुछ दर्शन केवल प्रकृति की व्याख्या करते हैं, पुद्गल के स्वरूप का ही वे प्रतिपादन करते हैं। भौतिक-दर्शन पुद्गल और प्रकृति की सूक्ष्म से सूक्ष्म व्याख्या करता है, किन्तु पुद्गल और प्रकृति से परे आत्म-तत्त्व तक उसकी पहुँच नहीं है। भौतिकवादी दार्शनिक पुद्गल और प्रकृति के सम्बन्ध में बहुत कुछ कह सकता है और बहुत कुछ लिख भी सकता है, परन्तु वह स्वयं अपने सम्बन्ध में कुछ भी जान नहीं पाता, कुछ भी कह नहीं पाता और कुछ भी लिख नहीं पाता। वह अपने को भी प्रकृति का ही परिणाम मानता है। अपनी स्वतन्त्र सत्ता की ओर उसका लक्ष्य नहीं जाता। इसके विपरीत अध्यात्मवादी-दर्शन प्रकृति के वात्याचक्र में न उलझकर आत्मा की बात कहता है। वह कहता है कि आत्मा स्वयं क्या है और वह क्या होना चाहती है? अध्यात्मवादी दार्शनिक यह सोचता है और विश्वास करता है कि मेरी यह आत्मा यद्यपि मूल-स्वरूप की दृष्टि से शुद्ध, बुद्ध, निरञ्जन एवं निर्विकार है, फिर भी जब तक इसके साथ कर्म का संयोग है, जब तक इस पर माया एवं अविद्या का आवरण है, तब तक यह विविध बन्धनों में बद्ध है। पर, जैसे ही यह आत्मा निर्मल हुई कि शुद्ध-बुद्ध होकर समस्त प्रकार के बन्धनों से सदा के लिए विमुक्त हो जाती है, परमात्मा बन जाती है। अध्यात्मवादी-दर्शन आत्मा की शुद्ध अवस्था की ओर अपने लक्ष्य को स्थिर करता है। जैन-दर्शन ने कहा है कि विश्व की प्रत्येक आत्मा अपने मूल स्वरूप में वैसी नहीं है, जैसी कि वर्तमान में दृष्टिगोचर होती है। यह तो केवल व्यवहार-नय है। शुद्ध निश्चय-नय से तो प्रत्येक आत्मा ज्ञान-स्वरूप और परमात्म-स्वरूप है। निश्चय-नय से संसारस्थ आत्मा में और सिद्ध आत्मा में अणुमात्र भी भेद नहीं है। जो कुछ भेद है, वह औपाधिक है, कर्म-प्रकृति के संयोग से है। अतः प्रत्येक आत्मा को यह विश्वास करना चाहिए कि भले ही आज मैं बद्ध-दशा में हूँ, किन्तु एक दिन मैं मुक्त-दशा को भी अवश्य ही प्राप्त कर सकता हूँ। क्योंकि आत्मा चैतन्य-स्वरूप है और उस चैतन्य-स्वरूप आत्मा में अनन्त-अनन्त शक्ति विद्यमान है। आवश्यकता शक्ति की उत्पत्ति की नहीं, अपितु शक्ति की अभिव्यक्ति की है।

जब भी कोई रोती एवं बिलखती आत्मा सद्गुरु के समक्ष हताश और निराश होकर खड़ी हुई है, भारत के प्रत्येक सद्गुरु ने उसके आँसुओं को पोंछकर उसे स्व-स्वरूप की शक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को जागृत करने की दिशा में अमोघ सान्त्वना एवं प्रेरणा दी है। साधना के मार्ग पर लड़खड़ाते पंगु मन को केवल बाह्य क्रियाकलापरूपी लाठी का सहारा ही नहीं दिया गया, बल्कि इधर-उधर की पराश्रित भावना की वैसाखी छुड़ाकर, उसमें आध्यात्म-मार्ग पर दौड़ लगाने की एक अद्भुत शक्ति भी जागृत कर दी। सद्गुरु ने उस दीन-हीन आत्मा की प्रसुप्त शक्ति को जागृत करके उसे भिखारी से सम्राट् बना दिया। उस दीन एवं हीन आत्मा को, जो अपने अन्दर अनन्त शक्ति के होते हुए भी विलाप करती थी, अध्यात्म-भाव की मधुर प्रेरणा देकर इतना अधिक शक्ति-सम्पन्न बना दिया कि वह स्वयं ही सन्मार्ग पर अग्रसर नहीं हुई, बल्कि उसने दूसरों को भी सन्मार्ग पर लाने के प्रयत्न में महान् सफलता प्राप्त की।

भारतीय-दर्शन कहता है कि संसार की कोई भी आत्मा, भले ही वह अपने जीवन के कितने ही नीचे स्तर पर क्यों न हो, भूल कर भी उससे घृणा और द्वेष नहीं करना चाहिए। क्योंकि न जाने कब उस आत्मा में परमात्म-भाव की जागृति हो जाए। प्रत्येक आत्मा अध्यात्म-गुणों का अक्षय एवं अनन्त अमृत कूप है, जिसका न कभी अन्त हुआ है और न कभी अन्त होगा। विवेक ज्योति प्राप्त हो जाने पर प्रत्येक आत्मा अपने उस परमात्म-स्वरूप अमृत-रस का आस्वादन करने लगती है। आत्मा का यह शुद्ध स्वरूप अमृत कहीं बाहर नहीं, बल्कि स्वयं उसके अन्दर में ही है। वह शुद्ध स्वरूप कहीं दूर नहीं है, अपने समीप ही है। समीप भी क्या? जो है, वह स्वयं ही है। बात बस इतनी-सी है, जो गलत रास्ता पकड़ लिया गया है, उसे छोड़कर सम्यक् राह पर आ जाना है। जीवन की गति-प्रगति को रोकना नहीं, बल्कि उसे अशुभ से शुभ और शुभ से शुद्ध की ओर मोड़ देना है।

जैन-दर्शन के अनुसार, प्रत्येक चेतन एवं प्रत्येक आत्मा—अक्षय एवं अनन्त चित्-कूप है, जिसमें शुद्ध चिदानन्दरूप अमृत-रस का अभाव नहीं है। प्रत्येक आत्मा में अनन्त-अनन्त गुण हैं। वह कभी गुणों से रिक्त एवं शून्य नहीं हो सकता। आत्मा उस धन-कुबेर के पुत्र के समान है, जिसके पास कभी धन की कमी नहीं होती, भले ही अज्ञानता के कारण वह अपने उस अक्षय भंडार का दुरुपयोग ही क्यों न कर रहा हो। शक्ति का यह अक्षय धन तो आपके पास भी है, परन्तु उसे दुरुपयोग से हटा कर सदुपयोग में लगाना है। यदि इतना कर सकें, तो फिर समझ लीजिए, आपके जीवन का समस्त दुःख, सुख में बदल जाएगा, समस्त अशान्ति, शान्ति में बदल जाएगी और सारी विषमताएँ, समता में बदल जाएँगी। जीवन का हा-हाकार, 'अहो-अहो' की आनन्द-धारा में परिणत हो जाएगा। फिर जीवन में किसी भी प्रकार के द्वन्द्व, संघर्ष और प्रतिकूल भाव कभी नहीं रहेंगे।

जड़ प्रकृति के पास केवल सत्ता है, चेतना नहीं। संसारी आत्मा के पास सत्ता भी है और चेतना भी है। यदि उसके पास कुछ कमी है, तो सिर्फ स्थायी सुख एवं स्थायी आनन्द की कमी है। आत्मा को परमात्मा बनने के लिए यदि किसी वस्तु की आवश्यकता है, तो वह है उसका अक्षय एवं अनन्त आनन्द। अक्षय आनन्द की उपलब्धि के लिए आत्मा में निरन्तर उत्कण्ठा रहती है। वह सदा आनन्द और सुख की खोज करती है। प्रश्न यह है कि संसार के प्रत्येक प्राणी को सुख की खोज क्यों रहती है? उसका कारण यह है कि सुख और आनन्द आत्मा का निज रूप है, वह इसके बिना नहीं रह सकती। इसलिए वह इसे पाने के लिए सतत प्रयत्नशील रहती है। चींटी से लेकर हाथी तक और गन्दी नाली के कीट से लेकर सुरलोक में रहने वाले इन्द्र तक सभी सुख चाहते हैं, आनंद चाहते हैं। विश्व की छोटी-से-छोटी चेतना भी सुख चाहती है; भले ही, उस सुख को वह अपनी भाषा में अभिव्यक्त न कर सके। हाँ, यह सम्भव है कि सबकी सुख की कल्पना एक जैसी न हो, किन्तु यह निश्चित है कि सबके जीवन का एकमात्र ध्येय सुख की प्राप्ति है। सुख कहाँ मिलेगा? कैसे मिलेगा? यह तथ्य भी सबकी समझ में एक जैसा नहीं है। किन्तु, सचेतन जीवन में कभी भी सुख की अभिलाषा का अभाव नहीं हो सकता, यह ध्रुव सत्य है। सुख की अभिलाषा तो सभी को है, किन्तु उसे प्राप्त करने का प्रयत्न और वह भी उचित प्रयत्न कितने कर पाते हैं, यह एक विचारणीय प्रश्न है। जो उचित एवं सही प्रयत्न करेगा, वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक-न-एक दिन अवश्य ही सुख पाएगा, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। सुख की अभिलाषा प्रत्येक में होने पर भी वह सुख कहाँ मिलेगा, इस तथ्य को बिरले ही समझ पाते हैं। निश्चय ही उक्त अनन्त एवं अक्षय सुख का केन्द्र हमारी स्वयं की आत्मा है। आत्मा के अतिरिक्त विश्व के किसी भी बाह्य पदार्थ में सुख की परिकल्पना करना, एक भयंकर भ्रम है। जिस आत्मा ने अपने अन्दर में—अपने स्वरूप में ही रहकर अक्षय आनन्द का अनुसंधान कर लिया, उसे अधिगत कर लिया, दर्शन की भाषा में, वह आत्मा सच्चिदानन्द बन जाता है। सत् और चित् तो उसके पास व्यक्त स्वरूप में पहले भी थे, किन्तु आनन्द के व्यक्त-स्वरूप की कमी थी। उसकी पूर्ति होते ही, आनन्द की उपलब्धि होते ही वह सच्चिदानन्द बन गया। जीव से ईश्वर बन गया, आत्मा से परमात्मा बन गया, भक्त से भगवान् बन गया और उपासक से उपास्य बन गया। यही भारतीय-दर्शन का मर्म है। इसी मर्म को प्राप्त करने के लिए साधक निरन्तर अध्यात्म-साधना का दीप जलाता है।

ईश्वर कौन है, कहाँ है ?

ईश्वरत्व के सम्बन्ध में ऊपरि विचार-चर्चा के उपरान्त अब हमें निष्कर्ष रूप में यह विचार करना है कि ईश्वर क्या है? उसकी वास्तविक स्थिति क्या है?

मानव-जाति ईश्वर के विषय में काफी भ्रान्त रही है। सम्भव है, अन्य किसी विषय में उतनी भ्रान्त न रही हो, जितनी कि ईश्वर के विषय में रही है। कुछ धर्मों ने ईश्वर को एक सर्वोपरि प्रभुसत्ता के रूप में माना है। वे कहते हैं—"ईश्वर एक है, अनादिकाल से वह सर्वसत्ता सम्पन्न एक ही चला आ रहा है। दूसरा कोई ईश्वर नहीं है। नहीं क्या? दूसरा कोई ईश्वर हो ही नहीं सकता। वह ईश्वर अपनी इच्छा का राजा है। जो चाहता है, वही करता है। वह असंभव को सम्भव कर सकता है, और संभव को असंभव! जो हो सकता है, उसे न होने दे, जो नहीं हो सकता, उसे करके दिखा दे। जो किसी अन्य रूप में होने जैसा हो, उसे सर्वथा विपरीत किसी अन्य रूप में कर दे।" ऐसा है ईश्वर का तानाशाही व्यक्तित्व, जिसे एक भक्त ने '**कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थः**' कहा है। वह जगत् का निर्माता है, संहर्ता है। एक क्षण में वह विराट् विश्व को बना सकता है, और एक क्षण में उसे नष्ट भी कर सकता है। उसकी लीला का कुछ पार नहीं है। उसकी मर्जी के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। और वह रहता कहाँ है? किसी का ईश्वर वैकुण्ठ में रहता है, किसी का ब्रह्मलोक में, तो किसी का सातवें आसमान पर रहता है, तो किसी का समग्र विश्व में व्याप्त है।

ईश्वरीय-सत्ता की उक्त स्थापना ने मनुष्य को पंगु बना दिया है। उसने पराश्रित रहने की दुर्बल मनोवृत्ति पैदा की है। देववाद के समान ही ईश्वरवाद भी मानव को भय एवं प्रलोभन के द्वार पर लाकर खड़ा कर देता है। वह ईश्वर से डरता है, फलतः उसके प्रकोप से बचने के लिए वह नाना प्रकार के विचित्र क्रिया-काण्ड करता है, स्तोत्र पढ़ता है, माला जपता है, यज्ञ करता है, मूक-पशुओं की बलि तक देता है। वह समझता है कि इस प्रकार करने से ईश्वर मुझ पर प्रसन्न रहेगा, मेरे सब अपराध क्षमा कर देगा, और मुझे किसी प्रकार का दण्ड न देगा। इस तरह ईश्वरीय उपासना मनुष्य को पापाचार से नहीं बचाती, अपितु पापाचार के फल से बच निकलने की दूषित मनोवृत्ति को बढ़ावा देती है। मनुष्य को कर्तव्य-निष्ठ नहीं, अपितु खुशामदी बनाती है।

यही बात प्रलोभन के सम्बन्ध में है। मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए न्यायोचित प्रयत्न करना चाहिए। जो पाना है, उसके लिए अपने पुरुषार्थ का भरोसा रखना चाहिए। परन्तु ईश्वरवाद मनुष्य को इसके विपरीत आलसी, निष्कर्मण्य एवं भिखारी बनाता है। वह हर आवश्यकता के लिए ईश्वर से भीख माँगने लगता है। वह समझता है, यदि ईश्वर प्रसन्न हो जाए, तो बस कुछ का कुछ हो सकता है। ईश्वर के बिना मेरी भाग्य-लिपि को कौन पलट सकता है? कोई नहीं। और, उक्त प्रलोभन से प्रभावित मनोवृत्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का आखिर यहीं परिणाम होता है कि जैसे भी हो ईश्वर को प्रसन्न किया जाए और अपना मतलब साधा जाए !

भगवान् महावीर ने प्रस्तुत सन्दर्भ में मानव को उद्बोधन देते हुए कहा है—"मानव ! विश्व में तू ही सर्वोपरि है। यह जो दीनता और हीनता है वह तेरे स्वयं के अज्ञान का दुष्फल है। जो तू अच्छा-बुरा कुछ भी पाता है, वह तेरा अपना किया हुआ होता है, वह किसी का दिया हुआ नहीं होता। तू ईश्वर की सृष्टि नहीं है, बल्कि ईश्वर ही तेरी सृष्टि है।" ईश्वर का अस्तित्व है; परन्तु वह मनुष्य से भिन्न कोई परोक्ष सत्ता नहीं है। ईश्वर शासक है और मनुष्य शासित, ऐसा कुछ नहीं है। मानवीय-चेतना का चरम विकास ही ईश्वरत्व है। ईश्वर कोई एक व्यक्ति विशेष नहीं, अपितु एक आध्यात्मिक भूमिका विशेष है, जिसे हर कोई मानव प्राप्त कर सकता है। ईश्वरत्व की स्थिति पाने के लिए न किसी तथाकथित देश का बन्धन है, न किसी जाति, कुल और पन्थ विशेष का। जो मनुष्य आध्यात्मिक विकास की उच्च भूमिका तक पहुँच जाता है, राग-द्वेष के विकारों से अपने को मुक्त कर लेता है, स्व में स्व की लीनता प्राप्त कर लेता है, वह परमात्मा हो जाता है। भगवान् का कहना था कि हर आत्मा शक्ति रूप से तो अब भी ईश्वर है, सदा ही ईश्वर है। आवश्यकता है उस शक्ति को अभिव्यक्ति देने की। हर विन्दु में सिन्धु छिपा है। सिन्धु का क्षुद्र रूप बिन्दु है, बिन्दु का विराट् रूप सिन्धु है। मानवीय-चेतना जब क्षुद्र रहती है, राग-द्वेष के बन्धन में बद्ध रहती है, तब तक वह एक साधारण संसारी प्राणी है। परन्तु जब चेतना विकृति-शून्य होती है, आध्यात्मिक-विकास की सर्वोच्च सीमा पर पहुँचती है, तो वह परम चेतना बन जाती है, परमात्मा हो जाती है। परमात्मा मूलतः और कुछ नहीं है, सदा-सदा के लिए चेतना का शुद्ध हो जाना ही परमात्मा होना है।

सांसारिक वासना की भूमिका पर खड़ी बद्ध चेतना अन्दर में दुर्बलताओं की शिकार है, अतः वह अन्तर्मन के सागर में तरंगायित होनेवाली विकृतियों के आदेशों का पालन करती है, निर्दिष्ट माँगों का अनुसरण करती है। तन और मन की कुछ सुविधाओं को पाकर वह सन्तुष्ट हो जाती है। परन्तु चेतना के सूक्ष्म अन्तःस्तर पर जब परिवर्तन होता है, अधोमुखता से ऊर्ध्वमुखता आती है, तब जीवन के समग्र तोष-रोष अर्थात् राग-द्वेष समाप्त हो जाते हैं, आत्मानन्द की शाश्वत-धारा प्रवाहित हो जाती है, और इस प्रकार चेतना अनन्त प्रज्ञा में परिवर्तित एवं विकसित होकर परमात्मा हो जाती है। चेतना का शुद्ध रूप ही प्रज्ञा है, जिसे दर्शन की भाषा में ज्ञान-चेतना कहते हैं। बाहर के किसी विकारी प्रभाव को ग्रहण न करना ही अर्थात् राग या द्वेष के छद्म रूपों से प्रभावित न होना ही चेतना का प्रज्ञा-चेतना हो जाना है, ज्ञान-चेतना हो जाना है। यही आध्यात्मिक पवित्रता है, वीतरागता है, जो आत्म-चेतना को परमात्म-चेतना में रूपान्तरित करती है, जन से जिन और नर से नारायण बना देती है। यह विकासप्रक्रिया क्रमिक है। जितना-जितना प्रज्ञा के द्वारा चेतना का जड़ के साथ चला आया रागात्मक संपर्क टूटता जाता है, जितना-जितना भेद-विज्ञान के आधार पर जड़ और चेतन का विभाजन गहरा, और गहरा होता जाता है, उतनी-उतनी चेतना में परमात्व-स्वरूप की अनुभूति स्पष्ट होती जाती है। अध्यात्म-भाव की इस विकास-प्रक्रिया को महावीर ने गुण-स्थान की संज्ञा दी है। आत्मा से परमात्मा होने की विकास-प्रक्रिया के सम्बन्ध में भगवान् ने स्पष्ट घोषणा की है—"परमात्मा विश्व-प्रकृति का द्रष्टा है, स्रष्टा नहीं। स्रष्टा स्वयं विश्व-प्रकृति है। विश्व-प्रकृति के दो मूल तत्त्व हैं—जड़ और चेतन। दोनों ही अपने अन्दर में कर्तृत्व की वह शक्ति लिए हुए हैं, जो स्वभाव से विभाव और विभाव से स्वभाव की ओर गतिशील रहती है। पर के निमित्त से होनेवाली कर्तृत्व शक्ति विभाव है, और पर के निमित्त से रहित स्वयंसिद्ध सहज कर्तृत्वशक्ति स्वभाव है। जब चेतन-तत्त्व पूर्ण शुद्ध होकर परमात्म-चेतना का रूप लेता है, तब वह पराश्रितता से मुक्त हो जाता है, पर के कर्तृत्व का विकल्प उसमें नहीं रहता, 'स्व' अपने ही 'स्व' रूप में पूर्णतया समाहित हो जाता है।" यह चेतना की विभाव से स्वभाव में पूरी तरह वापस लौट आने की अन्तिम स्थिति है। और, वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थिति ही वह परमात्म-सत्ता है, जो मानव-जीवन की सर्वोत्तम शुद्ध चेतना में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार भगवान् महावीर ने संसार की अन्धेरी गलियों में भटकते मनुष्य को जीवनशुद्धि का दिव्य सन्देश देकर अनन्त ज्योतिर्मय ईश्वर के पद पर प्रतिष्ठित किया। महावीर ईश्वर को, जैसा कि कुछ लोग मान रहे थे, शक्ति और शासन का प्रतीक नहीं, अपितु शुद्धि का प्रतीक मानते थे। उनका कहना था कि मानव-आत्मा जब पूर्ण शुद्धि की भूमिका पर जा पहुँचती है, तब वह सिद्ध हो जाती है, आत्मा से परमात्मा हो जाती है।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org